International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN : 2581-9925, Impact Factor: 5.143, Volume 02, No. 03, July - September, 2020, pp.185-188

प्राचीन काल में शिक्षा का स्वरूपः एक अध्ययन

डॉ. अजय कृष्ण*

प्रस्तावना

पूर्वजों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में अर्जित थाती को संजोय रखने के लिए शिक्षा की आवश्यकता प्रत्येक समाज को पड़ती है। उस प्राचीन काल में भी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना अनिवार्य था। विभिनन प्राचीन सभ्य देशो से लगभग भिन्न शिक्षा पद्धति भारत में प्रचलित थी। यहाँ प्रत्येक ब्राह्मण शिक्षक था। ब्राह्मण शब्द का प्रयोग यहाँ जान–बूझकर केवल इसलिए किया गया है कि यह शब्द अध्यापक, गुरू, पंडित आदि का द्योतक है। अपने घर में अध्यापक विद्यार्थी को शिक्षा देते थे। ये विद्यार्थी और कोई नहीं स्वयं प्राध्यापक के पुत्र, प्रपौत्र, भतीजे आदि होते थे। इस प्रकार इसे हम कौटम्बिक शिक्षा पद्धति कह सकते है। ऋग्वेद में भी लिखने उल्लेख नहीं किया गया है। वेद के मंत्र रटे जाते थे। विद्यार्थी द्वारा अध्यापक के कथित शब्दों की पुनावृति का उल्लेख एक मंत्र में आया है। उच्चारण आदि पर अधिक ध्यान दिया जाता था। पाठ संबंधी नियम भी कुछ मंत्रों में दिये गये हैं और यह बतलाया गया है कि विश्वामित्र का वैदिक पाठ कितना प्रौढ़ था पर शिक्षा की प्रमुख पद्धति तप ही थी। तप का तपस्या द्वारा आत्मशिक्षण संभव हो सकता था। विद्यार्थी स्वयं ज्ञानअर्जन के लिए प्रयासरत करते थे और गुरू की सहायता आंशिक रूप से आवश्यक थी। विद्यार्थी के आत्मशिक्षण का प्रमाण हमें ऋग्वेद के अनेक मंत्रों द्वारा प्राप्त होता है। आत्मानुभूति के लिए विद्यार्थी तप करते थे जिससे वे मुनि, विप्र आदि पद को प्राप्त करते थे। ऋग्वेद में हमें कुछ ऐसे मंत्र भी प्राप्त होते हैं जिसमें पाठशाला भी कोई संस्था थी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है क्योंकि एक स्थान पर यह बताया गया है कि विद्यार्थी बहादुरों की भांति पढ़ते थे।

उपरोक्त विवरणों में यह ज्ञात होता है कि शिक्षा का यह प्रारंभिक रूप भी अत्यन्त ठोस था। वैदिक मंत्रों को कंठाग्र किये बिना किसी प्रकारकाम चल ही नहीं सकता था। अतः उनके लिए दूसरी कोई शिक्षण पद्धति उपयोगी नहीं सिद्ध होती।

उत्तर वैदिक काल में पाठशालाओं के प्रमाण मिलते हैं। अथर्वदे में हमें तत्कालीन शिक्षा पद्धति का कुछ आभास मिलता है। सर्वप्रथम उपनयन संस्कार होता है और तभी आचार्य विद्यार्थी ब्रह्मचारी को एक दूसरे जीवन में प्रविष्ट कराता है। यह विद्यार्थी का दूसरा जन्म होता है। अतः यह द्विज कहलाता है। इस जीवन में प्रवेश करने के बाद विद्यार्थी का जीवन ही पूर्णतया परिवर्तित हो जाता है । उसे नये वस्त्र धारण करने पड़ते हैं। अब वह 'कर्षणम वसनाः' मेखला तथा दीर्घास्मस्तु बड़े बाल धारण करने वाला हो जाता है। यज्ञ के लिए 'समिधा' भी बटोरता तथा और भिक्षा भी मांगता था। श्रम और तप करना उसके लिए आवश्यक था। गुरू अपने शिष्य को हर प्रकार से सत्य पथ पर लाने का प्रयास करता था, क्योंकि वह उसके पापों का उत्तरदायी था। (शिष्यापापंम गुरोक्ति)। शिष्य भी अपने गुरू को दूसरा भगवान मानता था और वह उसके संकेतों पर ही चलता था।

आज की भांति प्राचीनकाल में भी शिक्षा की उपयोगिता पर जोर दिया गया था। विद्यार्थी के शारीरिक एवं मानसिक विकास को साथ–साथ ले चलना ही गुरूओं का प्रमुख कर्तव्य था। इसी अभिप्राय से विद्यार्थी को अन्तेवासी (गुरूगृह में निवास करने वाला) या आचार्य कुलवासी कहा जाता था ताकि उसके पास रहकर

6 पूर्व शोधार्थी, समाज विज्ञान संकाय, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार।

शारीरिक श्रम करके, गुरू के घर–द्वार की रक्षा करके, उसके पशुओं को चराकर, वे अपने अवयवों को हष्ट–पुष्ट करते थे और साथ ही वे भावी जीवन की पृष्ठभूमि तैयार करते थे। उनके मानसिक विकास के लिए विभिन्न प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन कराया जाता था। निश्चय ही जो शिक्षा हमारे जीवन को पूर्ण बनावे, उसकी बहुमुखी उन्नति में सहायता दे, वह उच्च कोटि की शिक्षा कही जा सकती है। इतना ही नहीं उस आध्यात्मिक वातावरण में परलोक में सुख देने का भी कोई स्थान आवश्य होना चाहिए और वह साधन शिक्षा ही था।

भारतीय समाज में शिक्षा का स्वरूप अलग सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित था जिसमें व्यक्तित्व के उत्थान के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के निर्माण तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों का निष्पादन करने के लिए शिक्षा की अतिआवश्यकता थी। वास्तव में प्राचीन भारतीय मनीषियों को यह अच्छी तरह ज्ञात था कि समाज तथा मनुष्य का आध्यात्मिक तथा बौद्धिक उत्कर्ष शिक्षा के माध्यम से ही संभव है। शिक्षा से ही मनुष्य में ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए ज्ञानोदभव का आधार शास्त्र और विवेक को माना गया है। विद्या अथवा ज्ञान से ही मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है अथवा ज्ञान से ही मनुष्य की मुक्ति प्राप्त होती है अथवा मनुष्य शिक्षा में निपुणता प्राप्त करता है। मानव जीवन में विद्या का, शिक्षा का विशिष्ट स्थान रहता है। अज्ञानता को अंधकार के समान माना गया है। ज्ञान या विद्या को मनुष्य का तीसरा नेत्र बतलाया गया है जो उसे समस्त तत्वों के मूल को समझने योग्य करने के साथ ही सही कार्यों की तरफ प्रवृत होता है। अज्ञानी को वृषल कहा गया है निश्चय ही ज्ञान के अभाव में मनुष्य जीवन तथा जगत के रहस्यों का ज्ञान पाने में असमर्थ होता है। ज्ञान में मनुष्य को अमृत प्राप्त होते हैं। संसार की समृद्धि तथा अभीष्ट की प्राप्ति ज्ञान पर ही अवलम्बित है ज्ञान का आलोक तिमिराच्छित जीवन को प्रकाशमय कर देता है। यही मनुष्य को सन्मार्ग का अवलोकन भी कराता है ज्ञान के कारण जीवन की समस्त बाधाओं तथा कठिनाईयों का स्वतः विनाश हो जाता है। अतः जिसे ज्ञान का प्रकाश उपलब्ध नहीं है वह नेत्रहीन है। शिक्षा से मनुष्य को जीवन संबंधी सिद्धान्तों तथा आचरणों को समझने में आसानी होती है तथा उसका शरीर और मन शिक्षा से ही परिष्कृत तथा पवित्र होता है। इसलिए यह अप्रतीम है।

प्राचीन काल से ही भारतीयों में अवधारणा रही है कि विद्या माता के समान रक्षा करती है। पिता के समान अच्छे कार्यों में नियोजित करती है, कान्ता के मसान श्रम को दूर कर आनन्दित करती है, सभी दिशाओं में धवन यश फैलाती है तथा लक्ष्मी को कल्पलता के समान बढ़ाती है।

विद्या अथवा ज्ञान भी सर्वश्रेष्ठ स्वयं सिद्ध है। भारतीय विचारकों द्वारा तीन लोगों की साधना वर्णित है – देवलोक, पितृलोक तथा मनुष्यलोक। इनमें देव लोक को विद्या द्वारा ही जीता जा सकता है। तीनों लोकों में देव लोक श्रेष्ठ है, अतः जिसके माध्यम से उसे जीता जा सके, वह निश्चय ही प्रशंसनीय है। इस प्रकार स्पश्ट है कि मानव जीवन में विद्या का शिक्षा का अनुपम योग है।

पाणिनि के अनुसार, 32 शास्त्र, थिर, जिह्ममूल, दनत, औष्ठ, तालु और नासिका – ये आठ स्थान भलाचारणीय शिक्षा के अनुसार सृक्क (आठों का प्रान्त भाग) और वत्सर्य/दंतमूल को मिलाकर दन्त स्थान विवेचित है। शिक्षा ग्रन्थों के ये मुख्य विषय है। भारत में ध्वनि विज्ञान संबंधी विचार अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित रहे हैं।

उद्देश्य एवं महत्व

शिक्षा के उद्देश्य अनेक है और इसलिए शिक्षा की उपयोगिता भी अत्यधिक है। 'उद्देश्य' शब्द 'उत' और 'दिश' शब्दों के योग से बना है जिसमें 'उत' का अर्थ है ऊपर की ओर तथा 'दिश' का अर्थ है दिशा दिखाना अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य का अभिप्राय है उच्च शिक्षा अर्जित करना। उच्च शिक्षा एक आदर्श स्थिति का द्योतक है जिसे सीमा में नहीं बांधा जा सकता है। मानव जीवन के विशिष्ट उद्देश्यों जिनकी पूर्ति भारतीय संस्कृति का ध्येय था, को ध्यान में रखकर शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित किया गया था। प्राचीन काल शिक्षा को ज्ञान की साधना के रूप में वर्णित किया गया है। अज्ञानी को वृभष कहा गया है। ज्ञान को आत्मा का प्रकाश मानते हुए यह भी स्वीकार किया गया है कि मनुष्य का ज्ञान बाहर से प्राप्त नहीं होता बल्कि शिक्षा द्वारा ही

उनकी अन्तर्निहित ज्ञानशक्ति को अभिव्यक्ति प्राप्त हुआ करती है। चित्त की एकाग्रता भी शिक्षा से ही प्राप्त होती है। वस्तुतः चित्त ही शिक्षा का वाहन है। भारतीय चिंतन में चित्तवृत्ति निरोध ही शिक्षा का स्वरूप माना गया है अर्थात् योग आधारित शिक्षा को ही यर्थाथ शिक्षा के रूप में मान्यता दी गयी है।

मुण्डकोपनिषद् में शिक्षा के उद्देश्य को वर्णित करते हुए कहा गया है कि इससे मानव में मानवता, विनम्रता एवं अप्रंगल्भता का विकास होता है। इसी के द्वारा व्यक्ति शिक्षित होता है। जिसका अभिप्राय क्षेत्रज्ञ, विज्ञ तथा प्रवीण होना होता है। शिक्षा का अर्थ ज्ञान विज्ञान एवं दर्शनों से आत्मा में एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न करना है अर्थात् आत्मा का सुसंस्कृत करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। वेद की दृष्टि से अप्रबुद्ध, असंस्कृत, अविकसित, अउन्नत, रूग्ण मानव को प्रवुद्ध संस्कृत, विकसित, उन्नत, निरोग एवं पूर्ण मानव बनाना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है।

शिक्षा का उद्देश्य यह भी था कि वह मानव के आचरण एवं चरित्र को उत्तम बनाये समाज के अन्य लोगों के साथ उसके सद्व्यवहार की प्रवति उसके चरित्रोत्थान में सहायक तत्व थी। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति अपनी तामसिक और पाश्विक प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखता था तथा सत् असत् का भेद कर सने में समर्थ होता था। जब मनुष्य को सत् का पूर्ण ज्ञान हो जाता था तथा अपने चरित्र और आचरण को वह तदानुकूल बना लेता था। तब उसके चरित्र का उत्थान प्रारंभ होता था और यह कार्य शिक्षा के द्वारा ही संभव था। निःसन्देह मानव एक आचरणशील प्राणी है। धन, शारीरिक शक्ति, ज्ञान एवं संस्कृति से अधिक महत्वपूर्ण उत्तम चरित्र को माना गया है क्योंकि इसके नष्ट होने से जीवन मृत्युप्राय हो जाता है। विद्यार्थी काल में ही शिक्षा की यथोचित प्राप्ति होती थी तथा चरित्र को तद्नुकूल संगठित करने का अवसर मिलता था। इसलिए चरित्र के विकास तथा भावी जीवन के विस्तार का यह श्रेष्ठ काल था।

बौद्धिक विकास

शिक्षा के माध्यम से मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष हाता था। विभिन्न प्रकार के संयमों और नियमों से मनुष्य का जीवन सुव्यवस्थित होता था। जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। शिक्षा प्राप्ति से ही व्यक्ति विभिन्न कर्तव्यों का पालन कर सकने में सफल होता था। उसके अन्दर आत्मसंयम, आत्मविश्वास, आत्मचिंतन, आत्मविश्लेषण, विवेक भावना प्रवति तथा आध्यात्मिक वृति का उदय होता था। आत्मविश्वास की भावना से ही व्यक्तित्व का समुचित रूप से विकास होता था। प्राचीनकाल में यह माना गया था कि विराटता, बुद्धि की सूक्ष्मता, व्यवहारिकता, विनयशीलता, निर्भयता, सत्य के प्रति आग्रहण आचरण की शुद्धता, सामाजिक समरसता आदि गुणों का समन्वय ही व्यक्तिव का बोधक था। शिक्षा के द्वारा इन गुणों के सम्यक विकास से शिक्षार्थी की व्यक्तित्व का उत्थान किया जाता था।

व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निष्ठापूर्वक शिक्षित होकर ही सम्पन्न करता था। स्नातक के रूप में वह केवल अपने ही हित का ध्यान नहीं रखता था बल्कि वह अन्यान्य विद्यार्थी को निःशुल्क शिक्षा भी प्रदान करता था।

वह अपने कर्मों का सम्पादन करते हुए अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा दृढ़ रखता था। पुत्र, पति तथा पिता के रूप में वह अपने विभिन्न उत्तरदायित्वों के संवहन करता था। विद्यार्थी के समवर्तन समारोह के उद्देश्य में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। सत्य, बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय में प्रमाद न करना, आचार्य को दक्षिणा देना, सन्तति उत्पादन की परम्परा विच्छिन्न न करना, सत्य से न हटना, धर्म से ना हटना, समाज कार्य में प्रमाद न करना, पठन–पाठन के कर्तव्य में प्रमाद न करना, माता को देवी समझना, पिता को देवता समझना, आचार्य तथा अतिथि को देवता समझना एवं दोषरहित कार्यों का सम्पादन करना।

अतः स्पष्ट है कि मनुष्य ने अनेकानेक उत्तरदायित्व थे। शिक्षा की प्राप्ति के बाद ही उनका निष्पादन हो पाता था। सभी वर्णों तथा जातियों को अपने पृथक–पृथक कर्म थे, जिनको सम्पादित करना उनका परमधर्म था। सभी अपने वर्णानुसार उत्तरदायित्वों का निवर्हन भी करते थे। शिक्षा और ज्ञान के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। अपने उद्देंश्यों को पूरा करने में संलग्न हो जाता था। कार्य विभापन के

अनुसार सभी वर्णों तथा जातियों के भिन्न–भिन्न कर्म थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र के अपने विभिनन कर्म थे, जिन्हें वे मनोविवेकपूर्वक सम्पादित करते थे। यद्यपि ऐसे भी उदाहरण मिलते है कि जब इन वर्णों के कतिपय सदस्यों ने अपने वर्णगत कर्मों का परित्याग करके दूसरे वर्णों के कर्म अपना लिए। आपत्तिकाल में क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के कर्म तथा ब्राह्मणों ने क्षत्रिय के कर्म, वैश्यों ने शूद्रों के तथा शूद्रों के कर्म तथा ब्राह्मणों के कर्म, वैश्यों ने शूद्रों के तथा शूद्रों के वैश्यों के कमै अपनाये।

आध्यात्मिक विकास

शिक्षा के माध्यम से सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का उत्कर्ष होता है। शिक्षा से ही अतीत की संस्कृति वर्तमान में जीती है तथा पूर्व से चली आ रही परम्परा जीवन्त हो उठती है। अतः अपनी संतति को शिक्षा द्वारा ही शिक्षित करना और प्राचीन संस्कृति की ओर प्रवृत करना इसका मुख्य लक्ष्य था। वैदिक साहित्य तथा अन्यान्य विषयों की शिक्षा और प्रसार शिक्षा का प्रधान आधार था। वेदों का कंठस्थ करना तथा उन्हें यत्नपूर्वक मस्तिष्क में सुरक्षित रखना। प्राचीन काल में विद्यार्थी का यह प्रधान कर्तव्य था। साथ ही साथ यह आर्य संस्कृति का प्रधान उद्देश्य भी था। वेद वेदांगों को कंठस्थ करना उन्हें स्मरण करना ब्राह्मण का प्रधान धर्म था। सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन के लिए तीन ऋण चुकाने की अनिवार्यता मानी गयी है। प्रत्येक हिन्दू परिवार में इन तीनों ऋणों की सम्यक् रूपेण पूर्ति करना प्रधान कर्तव्य था। देव ऋण, ऋषि तथा पितृ ऋण से मनुष्य को मुक्त होना आवश्यक बताया गया था। इस प्रकार सांस्कृतिक जीवन के उत्थान में परम्पराओं को प्रचारित करने वाले निर्मित नये साहित्य में अतीत के जीवन के प्रति आकर्षण प्रतिबिम्बित होता है।

प्राचीनयुगीन शिक्षा के मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार भी था। अतः सभ्यता और संस्कृति के विकास का मूल आधार शिक्षा ही थी। उस समय शिक्षार्थियों को इस प्रकार की भी शिक्षा प्रदान की जाती थी कि वे अपनी साहित्यिक संस्कृति की सुरक्षा तथा व्यवसायिक परम्परा का संरक्षण कर सके। परिणाम स्वरूप राष्ट्रीयता संस्कृति की सुरक्षा को बड़ा बल मिलता था। जैसे परिवार में पिता अपने पुत्र को अपने व्यवसाय की शिक्षा देता था, ब्राह्मण वेदों को कंठस्थ करते थे तथा उसे अपने शिष्यों को भी कंठस्थ करा देना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे, उसी तरह यह आवश्यक समझा जाता था कि वैदिक संस्कृति अध्यात्मवाद एवं भौतिकवाद का अद्भुत समन्वय है, क्योंकि मानव जीवन के लिए ये दोनों ही आवश्यक है।

lanHk xzUFk lph

- वृहदाराण्यक उपनिषद् 6/2 (गीता प्रेस गोरखपुर)
- छोन्दोग्य उपनिषद्, 7/1/1/2, वृहदारण्यक उपनिषद, 2/4/10
- विष्णुपुराण 6/1/12 अन्ध तमईकज्ञनम्।
- सुत्तनियात (वसलसुत्त) पृ0 25–26 तथा परमट्ठसुत्त, पृ. – 175
- सुभाषितरत्न भण्डार 31/4
- सोमदेवभट्ट कथासरित्सागर, पटना 1961 श्लोक 22
- आर्यमिलः वेदांगप्रकाश, विशेषांक 15.02.1968

❖◆❖